ग्रेस कुजुर की हिन्दी कविताएँ

एक और जनी-शिकार

1.

कहाँ है वह फुटकल का गाछ
जहाँ चढ़ती थी मैं
साग तोड़ने
और गाती थी तुम्हारे लिए
फगुआ के गीत
जाने किधर है
कोमल पत्तियों वाला
कोयनार का गाछ
जिसके नीचे तुम
बनाया करते थे/मांदर और बांसुरी?

कहाँ गई वह सुगंध
'महुआ' और 'डोरी' की
'गूलर' और 'केवोंद' की
कहाँ खो गया बांसो का संगीत
और जाने कहाँ उड़ गई
'संधना' की सुगंध?

'सखुआ' की पत्तियों में
किसने किए हैं सुराख
कैसे बीनूंगी उनकी पत्तियाँ
कैसे सीऊंगी दोना और पतरी
अब तो बढ़ने लगे हैं
दातुन भी/टेढ़े मेढ़े

2.

संगी रे –
कितने चमकते थे
पटवा में खोंसे हुए तुम्हारे
उजले पंख-बगुले के
और कितना लहराता था
अखरा में नाचते वक्त
तुम्हारी तोलोङ का फुदना
कितना सुकून पैदा करती थी
रात के सन्नाटे में
मांदर की थाप
और हवा में धुलते
'अंगनई' और 'डमकच' की गीत

अब कहां है वह अखरा?
किसने उगाए हैं वहां
विषैले नागफनी
बार-बार उलझता है जहां
तुम्हारी 'तोलोंग' का फुदना
क्यों उदास है आज
'पटवा' के उजले पंख?
हवा में नहीं तैरते अब
'अंगनई' और 'डमकच' के गीत
सिल गए हैं होंठ मेरे
धतूरे के कांटो से...

मेरा जुड़ा बहुत सूना लगता है संगी...
सरहुल के फूलों बिना
और लगता है
कहीं अटक गया है
किसी डाल पर 'करमा' का गीत
नहीं सुनाई पड़ता है अब

बारिश की बूंदों का वह
पत्तियों से झरता हुआ संगीत
नहीं है 'टोंकी' में अब
'पियार' और 'पिटोर' की मिठास
न 'खुखड़ी' न 'रूगड़ा'
न घोंघी और केकड़ा
नहीं बुझती अब प्यास
'कादो' हो गया है
डाड़ी और चुआं का पानी

संगी रे...
न जाने कौन से देश उड़े
छितिज के पार वे
हरे खेतों में बिचरते बगुले
नहीं खेलती झूमर अब
'डोभा' के पानी में
'गीतू' और 'बुदु' मछलियां
फसने लगे हैं क्यों/'कुमनी' में
डोंढ़ बहुत दुमुंहे?
और बार-बार फिसलने लगी है क्यों
हथेलियों से जिन्दगी यहां
मांगुर की तरह?
हे संगी!
क्यों घूमते हो
झुलाते हुए खाली गुलेल
जंगल-पहाड़, नदी-ढोढ़ा
तुम्हारी गुलेल का गोढ़ा
डूबते हुए लाल सूरज की तरह

अटक गया है
टहनी में
क्या तुम्हें अपनी धरती की
सेंधमारी सुनाई नहीं दे रही?
क्या अब भी निहारते हो
अपने को
दामोदर और स्वर्ण रेखा के
काले जल में?
किसने की है चोरी
भिनसरिया में ढेंकी के संगीत की
और उखाड़ी है किसने
'आजी' के 'जाता' की कील?

'पुटुस' तक को
उखाड़ कर ले जाएंगे लोग
और तब
तुम खोजोगे उसकी बची हुई जड़ों में
अपना झारखंड
हंड़िया और दारू से सींच कर
क्या किसी ने उगाया है-
कोई जंगल?

हे संगी!
तानों अपना तरकस
नहीं हुआ है भोथरा अब तक
'बिरसा बाबा का तीर'
कस कर थामो
टहनी पर अटके हुए सूरज के लाल गोढ़ा को
गला दो अपनी हथेलियों की
गर्मी से
और फैला दो झारखंड की

फुनगियों पर
भिनसरिया में उजास
चटकने से पहले
बेध डालो
हाँ, बेध डालो
दामोदर और स्वर्ण रेखा को
काली नागिन बनने से पहले
कि देख सको तुम उसके निर्मल जल में
सिर्फ
मछली की आँख
अर्जुन की तरह

और अगर
अब भी तुम्हारे हाथों की
अंगुलियां थरथराई
तो जान लो
मैं बनूंगी एक बार और
"सिरगी दाई"
बांधूंगी फेटा
और कसेगी फिर से
'बेतरा' की गांठ
नहीं छुपेगी अब
किसी ग्वालिन की कोई साठ-गांठ

सच!!
बहुत जरूरत है झारखंड में
फिर एक बार
एक जबरदस्त
जनी-शिकार।

हे समय के पहरेदारो

पर्वतों की फिजाओं से
आती आवाजों को
कभी सुना है तुमने
जिनकी गुफाओं में
प्रकृति सोती है
जहां कंदराओं में
हवाएँ झूलती है
खामोश है जहां
ऋषि-मुनियों की
मौन भाषाएँ
और जुड़ी है
वन-प्रांतर की अनेक कथाएँ
जिनकी तराइयों में
बहती है जीवन की
कई धाराएँ
क्या तुमने कभी देखा है
पर्वत को रोते?
क्या कभी सुनी है
उसके ह्रदय की आवाज
क्या कभी देखा है
उसका टुकड़े-टुकड़े होकर
बिखर जाना?

इसके बावजूद
देखी होगी तुमने
उसके ह्रदय की
निर्मल धारा
सुनी होगी उसकी

जल तरंग
जिस नदिया के किनारे
तुमने बजाई होगी
अपनी राधा के लिए
सौतन बांसुरिया
जिसकी डगरिया पर
फोड़ी होगी उसकी गगरिया
आज तुम
अपने ही स्वार्थ के लिए
पर्वतोंम के पत्थर
तोड़ रहे हो
बारूदी गंध से
जीवन की मरोड़ रहे हो
क्या कभी नदिया
लौट कर पूछेगी
अपने खंडहर होते
पर्वतों से-
कि कहां गया
उनका उदगम?
कहां गया उनका वैभव?

तब पर्वत रोएगा
सूख जाएंगी उसकी धाराएं
न किसी मोहन की बांसुरी
तड़पेगी नदी किनारे
अपनी राधा के लिए
और न फूटेगी
कोई गगरी
न कोई पकड़ेगा
गांव का बातक
नदी के रेत में
'टेंगरा' और 'गीतू' मछरी

एक बूंद पानी के लिए
तड़प-तड़प जाएंगी
हमारी पीढ़ियां
इसलिए
मैं सच कहती हूं
हे समय के पहरेदारो!
तुमने अवश्य सुना होगा
एक वृक्ष की जगह
सगाओ दूसरा वृक्ष
क्या कभी सुना है
एक पर्वत के बदले
उगाओ दूसरा पर्वत

करोड़ो साल में बने
इन पर्वतों को
तुम्हारे बारूदी मन ने
फिर-फिर तोड़ा है
और कुंवारी हवाओं को
हर बार छेड़ा है –
जिसके धूल-कणों ने
तुम्हें तो मुंह छुपाना
भी नहीं आता
शायद इसलिए
उगा रहे हो धूल
छुपाने के लिए मुंह
शुतुरमुर्ग की तरह

इसीलिए फिर कहती हूं

न छेड़ो प्रकृति को
अन्यथा वही प्रकृति
एक दिन
मांगेगी
हमसे
तुमसे
अपनी तरूणाई का
एक-एक क्षण
और करेगी
भयंकर... बगावत
और तब
न तुम होगे
न हम होंगे!

बौना संसार

जब-जब औरत को
धरती के नीचे तक दबना पडा हैट
तब-तब
अंकुरित हुई है वह
जब कभी तुम हारे थके
पथिक की तरह
आगोश में आए हो उसके
तब-तब बरगद सी हुई है वह
लेकिन तुम्हें उसका बरगद होना
अच्छा नहीं लगता
तुम –
कैद कर देते हो उसे –
गमले में किसी बोनसाई की
मानिंद
इसके बावजूद वह फूलती है
फलती है
और तुम उसके
इसी बौनेपन में कितने खुश हो
ओह ...
कितना बौना है वह आदमी
और उसका बौना संसार!

मेरा आदाम मुझे लौटा दो

दोनों थर-थर कांप र हे थे
दीवारों को कान लगाए
बड़े गौर से जांच रहे थे
ईंट पत्थर एक-एक कर
ढह रहे थे
वा कि ढहाए जा रहे थे
लेकिन दोनों
तहखाने के
अंधेरे कोने में दुबके
सांसे भींव रहे थे
कुदालों और गैंतो की
हर आवाज पे
रूक-रूक जाता था
जिस्मानी नसों का लहू

बाहर भयानक शोर था
और थी हवा में तलखी
हजारों जोड़ी मुट्ठियां

इन मुट्ठियों में
ताकत थी या आक्रोश
यह तो नहीं मालूम
लेकिन वे नहीं थे
जो तहखाने के नीचे
एक दूसरे से लिपटे
थर-थर कांप रहे थे
और अचानक भरभरा कर
इतिहास एक बार फिर
सूने पृष्ठों की तरह
पसर गया धरती पर
लिखे जाने के लिए
एक बार और

आज फिर हो रही है खुदाई
गैंते और गंड़ासे
फिर चल रहे हैं
लोग खड़े हैं सांस रोके
आज कंपकंपी तहखाने में नहीं
बाहर है
इतिहास ऊपर नहीं
नीचे है
मुट्ठियां आज हवा में
नहीं तैर रही
बल्कि चुपचाप़
देह में सरगोशियां कर रही है
इसके साथ ही उभर आए
मिट्टी के ढेर पर
एक दूसरे से गुंथे हुए
दो कंकाल

भीड़ हतप्रभ
उभर रहा था एक ही सवाल
कौन राम? कौन अल्लाह?
कौन किसका कंकाल
तभी भीड़ को चीरते हुए
बेतहाशा हांफते हुए
'हव्वा' एक बार फिर
चिल्लायी थी
"मेरा आदम मुझे लौटा दो!"
"मेरा आदम मुझे लौटा दो!"

कलम को तीर होने दो

शाखें हो गई कमान सब कोंपल तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

उगल रही धरती आग है
धुंआ हमने पीया है
बूंद-बूंद को तरसे लोग
बूंद बहा कर जीया है
नदियां हो गई कमान सब पर्वत तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

वे लूटने-लुटाने आए
हम गए परदेश
धरती उजड़ी जंगल उजड़े
रह गया क्या शेष?
झाड़ियां हो गई कमान सब बिरवे तीर

देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

कोयले की धूल में सोए हैं पाँव
कांधों पे अपने ही
ढोए हैं गांव
देह हो गई कमान सब आहें तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

ईटों के भट्ठों में
सीझ गई जिंदगी
रोटी की खोज में कहां नहीं बागी
बाहें हो गई कमान सब अंगुलियां तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

अंगनई और डमकच
हवा में नहीं बोल र हाँ
भूखा है शहर गांवों को लील रहा
गलियां हो गई कमान सब आँगन तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

क्या कर लेंगी उनका
बंदूक और गोलियां
लाघते ही देहरी
हजारों कहानियां
नस-नस हो गई कमान सब लहू तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

अमन की संजीवनी

याद आता है मुझको वो दिन
कजब पहली बार तुम सरके थे
पेट के बल मचल-मचल कर
कई बार तुम लुढके थे
तब हम सब बहुत हंसे थे
सामने रखी गेंद
जब कभी तुम लेने को मचलते
लुढक जाती थी वो आगे की और
तब तुम खीझ कर
और तेजी से सरक जाते थे

बटालिक-द्रास और गारगिल की
पथरीली पहाड़ियों पर
आज सकते देख तुम्हें
याद आता है मुझे वह दिन
ब पहली बार तुम सरके थे
बस्ते का बोझ उठाए
तुम्हारे मासूम कदमों ने
क्या कभी सोचा होगा
कि कल मीलों चलना है?

लेकिन आज तुम्हारी पीठ पर
बस्ते का बोझ नहीं
बोझ है तो सिर्फ थोड़े से गर्म कपड़े
खाने की कुछ सूखी चीजें
कुछ गोली, कुछ बारूद
कंधे पर है भारी बंदूक
इंच दर इंच सरकते
दुश्मनों की गोलियां से बचते
छिल गए हैं तुम्हारे कुहनी और घुटने
रिसते हुए तुम्हारे जिस्म के लहू ने

द्रास कारगिल और बटालिक के
पत्थर-पत्थर पर
लिख डाले हैं तुम्हारे नाम

सरहद की तमाम पहाड़ियों को
सींचा है तुम्हारे लहू ने इतना
और उगाई है हम सब के लिए
अमन की वो संजीवनी बूटियां
कि मूर्छित किसी लक्ष्मण के लिए
इन पहाड़िओं को उठा तो क्या
हिला भी नहीं सकता
कोई बजरंग बली!

कलम मौसम बदलेगी

मिसाइलों और तोपों की आवाज
अब कानों को सुनाई नहीं पड़ती
सुनाई पड़ती है
तो सिर्फ गर्म रेत पर गिरते हुए
तुम्हारे लहू की आवाज
सिहर-सिहर उठती है
जिस्मानी नसें और
धमनियों में कहीं अटक जाता है
लहू का एक कतरा अब रेंगिस्तान में
रेत की आँधियां नहीं चलती
रेत गीली गो गई है
इंसानियत के लहू से
अब खजूरों की तमाम शाखें
लहू के भार से झुक गई हैं
रेंगिस्तान के सूने पन्नों पर
इतिहास के काले अक्षरों को दुहराने

लेकिन ए अमन के परिंदो
एक बार खजूरों के देश हो आओ
लाओ वहां से हम सब के लिए
मीठे खजूरों की गुच्छियाँ
तेल की धार न देखो
देखो कलम की धार
तुम्हारे लिए
हां तुम्हारे लिए
कलम मौसम बदलेगी
कलम मौसम बदलेगी!

प्रतीक्षा

चुप क्यों हो संगी?
कुछ तो कहो!
पैरों के नीचे धरती के अंदर
कोयले के अंतस में छुपी
आग के बावजूद
इतनी ठंढी क्यों है, तुम्हारी देह?

झारखंड की
विशाल पट्टिकाओं में रेंगते
तांबे के तार।
क्या तुम्हारी रगों में नहीं दौड़ते
लोहे की धरती का पानी?
पीने के बावजूद

हवा के एक झोंके में उड़ जाते हो।
आसाम-भोटांग, ईंट-भट्ठा
और महानगर?

थर्मल पावर के दूधिया प्रकाश
और
जादूगोड़ा के जादुई चिराग तले
करंज तेल की ढिबरी लिए
मन के किस अंधेरे में
भटक रहे हो संगी?

जल, जंगल, जमीन के बिना
साल-वन के जीवन का व्याकरण
किन पंडितों के हाथों
तुमने गिरवी रखी है संगी?
कोटरों से निकल अपने
साल वन के सुग्गे भी
पूछ रहे हैं
अपने होने का पता
तुम्हारे उत्तर की प्रतीक्षा में।
संगी
अब भी खड़ी हूं मैं
चट्टान में खड़े,
इकलौते साल-वृक्ष की तरह
जो चुपचाप सींच लेता है
अपने हिस्से का पानी।

***